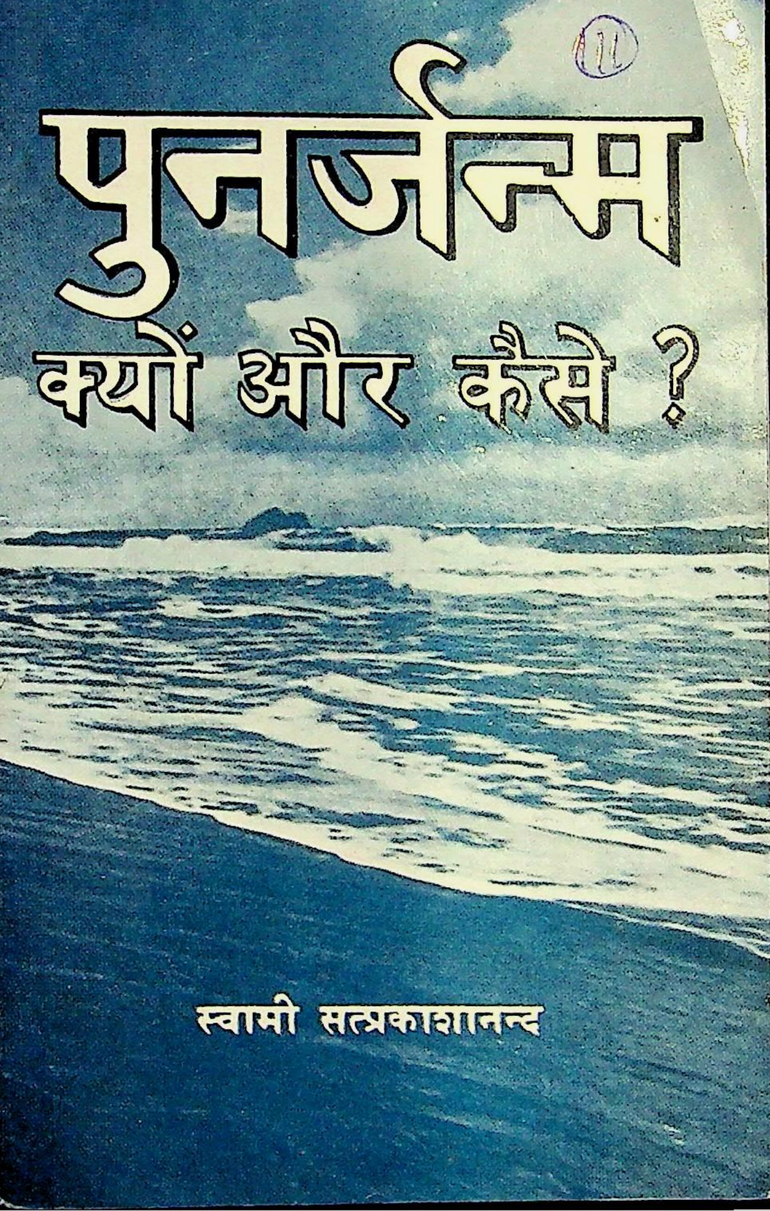


पुनर्जन्म

क्यों और कैसे ?

स्वामी सत्प्रकाशानन्द

आदरणीय डॉ० बद्री नाथ कल्ला जी के लिए

सप्रेम

[illegible]

अनुवादक

पुनर्जन्म — क्यों और कैसे ?

पुनर्जन्म — क्यों और कैसे ?

लेखक

स्वामी सत्प्रकाशानन्द

अनुवादक

प्रो० चमनलाल सप्रू

अद्वैत आश्रम

५ डिही एण्टाली रोड

कलकत्ता ७०० ०१४

प्रकाशक
स्वामी स्वानन्द
अध्यक्ष, अद्वैत आश्रम
मायावती, पिथौरागढ़, हिमालय

द्वितीय संस्करण, सितम्बर १९८९
5M3C

मुद्रक
स्वप्ना प्रिंटिंग वर्क्स (प्रा:) लिमिटेड
५२, राजा राममोहन राय सरणी,
कलकत्ता-७००००९

भूमिका

एशिया के एक बड़े भाग में पुनर्जन्म के सिद्धान्त से सभी परिचित हैं तथा इसे स्वीकार करते हैं। इस्ताम्बूल में सन् ५४३ ई० में आयोजित चर्च-पुरोहितों की एक परिषद् में निन्दित एवं परित्यक्त हो जाने के पहले पश्चिमी देशों में इसे सभी मानते थे। अपनी युक्ति-संगतता के कारण अब यह सिद्धान्त पुनः व्यापक रूप से मान्यताप्राप्त होने लगा है। पूर्वी देशों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण के तथा पश्चिमी देशों में पुनर्जन्म के सिद्धान्त के प्रचार को देखते हुए ऐसा लगता है कि आधुनिक जीवविज्ञान की गवेषणाओं की पृष्ठभूमि में इसका एक स्पष्ट तथा संक्षिप्त विश्लेषण बहुतों के लिये रुचिकर होगा।

"पुनर्जन्म – क्यों और कैसे ?" —ऐसा ही एक विश्लेषण है। मूल अँगरेजी लेख "HOW IS A MAN REBORN?" दो किस्तों में "प्रबुद्ध भारत" (*Awakened India*) अँगरेजी मासिक-पत्र के सन् १९७० ई० के जुलाई तथा अगस्त के अंकों में प्रकाशित हुआ था। सर्व-साधारण के लाभार्थ इसे पुस्तिका के आकार में प्रकाशित किया गया है। इसके लेखक स्वामी सत्प्र-काशानन्दजी रामकृष्ण मठ के एक वरिष्ठ संन्यासी थे।

उन्होंने संयुक्तराज्य अमेरिका के सेंट लूइस शहर में वेदान्त सोसायटी की स्थापना की थी। एक तो "प्रबुद्ध भारत" के लिये इस लेख की रचना के लिये तथा दूसरे इसे पुस्तक के आकार में प्रकाशित करने की अनुमति देने के लिये हम उनके आभारी हैं।

हिन्दी में अनुवाद का कार्य प्रो० चमनलाल सप्रू ने किया है, जो सम्प्रति गवर्नमेंट कॉलिज फॉर वीमेन, नवाकदल, श्रीनगर (काश्मीर) के हिन्दी विभाग में अध्यापन का कार्य करते हैं। पाण्डुलिपि के संशोधन में रामकृष्ण मठ के ही स्वामी आत्मानन्दजी तथा स्वामी मुक्तिदानन्दजी ने विशेष सहायता प्रदान की है।

पुनर्जन्मसम्बन्धी लेखक की विवेचना से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि पुनर्जन्म के सिद्धान्त को आधुनिक विज्ञान की गवेषणाओं से कोई भय नहीं। बल्कि यह सिद्धान्त ऐसी अनेक घटनाओं का स्पष्टीकरण करता है जिन्हें न तो वैज्ञानिक विश्लेषण से, न ही किसी और मतवाद के सहारे इतने सन्तोषजनक रूप से स्पष्ट किया जा सकता है। पुनर्जन्म के सिद्धान्त तथा इसके परिपूरक कर्मवाद का सर्जनात्मक, अर्थपूर्ण एवं दायित्वपूर्ण जीवन के साथ सीधा सम्बन्ध है।

अद्वैत आश्रम
मायावती

प्रकाशक

पुनर्जन्म – क्यों और कैसे ?

आनुवंशिकता तथा परिवेश मनुष्य के जन्म और विकास को समझने के लिये पर्याप्त नहीं।

१. पुनर्जन्म के सिद्धान्त की विश्वव्यापी स्वीकृति का कारण इसकी युक्तिपूर्णता है।

पुनर्जन्म के सिद्धान्त का प्रचार विशेषत: हिन्दूधर्म और बौद्धधर्म करते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार जब तक मनुष्य जगत्प्रपञ्च के आकर्षणों से मुक्त नहीं हो जाता तब तक उसे पुन: एक नये मानव-शरीर में जन्म लेना ही पड़ता है। हिन्दुओं तथा बौद्धों के पुनर्जन्म-सम्बन्धी मतों में सूक्ष्म भिन्नताएँ हैं। मैं यहाँ हिन्दुओं के अर्थात् वेदान्त के दृष्टिकोण से इस विषय की चर्चा करूँगा। आत्मा के देहान्तर-प्राप्ति में विश्वास केवल हिन्दुओं तथा बौद्धों में ही सीमित नहीं है। यूनानी विचार-धारा में, पारसीक धर्मशास्त्रों में, इसिनीज़ सम्प्रदाय के उपदेशों में, फरीसियों (Pharisees) में, जस्टिन मार्टर तथा ओरीजेन् जैसे ईसाई चर्च के आदिकालीन आचार्यों में, तथा सूफी सन्तों और कवियों में भी इस विश्वास के अस्तित्व के सुस्पष्ट प्रमाण मिलते हैं। संसार के विभिन्न भागों की आदिम

जातियाँ एवं जनजातियाँ भी इस सिद्धान्त में विश्वास करती हैं। जन्म और मृत्यु के रहस्य आदिकाल से ही मानव-मन को उद्वेलित करते आ रहे हैं। मनुष्य कहाँ से आता है? वह कहाँ जाता है? ये मानव-मन के स्वाभाविक प्रश्न हैं।

मनुष्य को अपने भावी अस्तित्व में विश्वास के साथ ही उसे अपने पिछले अस्तित्व में भी विश्वास होता है। ईसा मसीह के कथन भी पुनर्जन्म के सिद्धान्त को पुष्ट करते हैं। बैप्टिस्ट् जॉन के सम्बन्ध में उन्होंने कहा, "यदि तुम मानो तो यही वह इलयास् है जिसे फिर आना था। जिसे सुनना हो सुन ले।"[१] मृत्यु के बाद का अस्तित्व जन्म से पहले के अस्तित्व को मान लेता है। जो मृत्यु से परे है वह जन्म से भी परे होगा। उसका उद्भव या विनाश भौतिक शरीर पर निर्भर नहीं होता।

स्कॉटलैंड के दार्शनिक एवं इतिहासकार डेविड ह्यूम (१७११-१७७६) का कथन है —

"अत: यदि यह आत्मा अमर है तो हमारे जन्म के पहले भी यह वर्तमान थी और अगर इसके पूर्व-अस्तित्व से हमारा किसी तरह का सम्बन्ध न रहा हो तो इसके परवर्ती अस्तित्व से भी हमारा कोई सम्बन्ध

[१] मैथ्यू : ११/१४-१५।

नहीं हो सकता।... अतः पुनर्जन्मवाद इस प्रकार का एक ही ऐसा सिद्धान्त है जिस पर दार्शनिकों का ध्यान आकृष्ट हो सकता है।"[२]

स्वामी विवेकानन्द कहते हैं –

"अगर भविष्य में चिरकाल के लिये तुम्हारा अस्तित्व रहना सम्भव हो, तो यह भी सच है कि अनादिकाल से तुम्हारा अस्तित्व था। इसके अतिरिक्त और कुछ हो ही नही सकता।"[३] किसी अस्तित्व के शाश्वत होने की धारणा के साथ ही साथ यह धारणा कि उसका आरम्भ होता है निरर्थक है। काल में जिसका आरम्भ होता है अवश्य ही काल में उसका विलय भी होता है।

पुनर्जन्म का सिद्धान्त कर्मवाद के सिद्धान्त का परिपूरक है। मनुष्य का पुनर्जन्म उसके अपने कर्म को सम्पूर्ण करने के लिये ही होता है। वह जैसा बोता है, वैसा काटता है। कर्म के नियम मनुष्य को जन्म

[२] *Essays by David Hume*, 'The Immortality of the Soul', जॉर्ज रौट्लिज् ऐन्ड सन्स् लिमिटिड, लंदन। पृ० ४२४-२७।

[३] विवेकानन्द साहित्य, १९६३, अद्वैत आश्रम, कलकत्ता। द्वितीय खण्ड, पृ० ११३।

और पुनर्जन्म के चक्र में आबद्ध करते हैं। कर्म से मानव बँधता है तथा कर्म से ही उसकी मुक्ति हो सकती है। कर्म तभी तक बन्धन का कारण होता है जब तक मानव जगत्प्रपञ्च में आसक्त होता है। किन्तु जब वह अनन्त की प्राप्ति को अपना लक्ष्य बना लेता है, तब कर्म उसकी मुक्ति का कारण बन जाता है। यह द्विविध सिद्धान्त मानव के अतीत, वर्तमान एवं भविष्य को लेकर निर्मित उसके व्यक्तित्व के एक व्यापक तथा सुसंगत प्रेक्षण पर आधारित है। यह जीवन की प्रतिष्ठित घटनाओं की व्याख्या करता है। जीवननाट्य तथा इसके रहस्यों की एक बुद्धिसंगत व्याख्या होने के नाते इस सिद्धान्त के महत्त्व को प्राचीनकाल से लेकर वर्तमान काल तक के विश्व के बड़े बड़े दार्शनिकों ने समझा और मान लिया है। वास्तव में, संसार के धर्मविज्ञानी (theologians), दार्शनिक, रहस्यवादी, वैज्ञानिक, कवि तथा मनोवैज्ञानिक — सभी पुनर्जन्म के सिद्धान्त का समर्थन करते हैं जो कर्मवाद का ही एक अनुक्रम है।

इंग्लैण्ड के मैन्चेस्टर शहर के मुख्य ग्रन्थपाल एल० स्टैन्ली जोस्ट् "पुनर्जन्म तथा कर्म—आज के संसार पर प्रयुक्त एक आध्यात्मिक दर्शन," इस विषय पर लिखते हुए कहते हैं —

"पुनर्जन्म की सत्यता के मौलिक प्रमाण को केवल बुद्धि के द्वारा ही समझा जा सकता है। यह प्रमाण किसी भी विषय को महत्त्व तथा अर्थ प्रदान करने की उस धारणा-शक्ति पर निर्भर है, जिसके अभाव में यह विषय इन दोनों से वंचित ही रह जाता है। दृश्य-जगत् तथा विचार-जगत् दोनों में पारमार्थिक किसी भी सत्य के प्रमाण का यही एकमात्र प्रकार है। इस विश्व-ब्रह्माण्ड में एक नीतिसंगत व्यवस्था है — इस प्रारम्भिक पूर्वकल्पना के आधार पर पुनर्जन्म के इस सिद्धान्त को तर्कसम्मत रूप से प्रमाणित किया जा सकता है, और इस पूर्व-कल्पना के बिना इस विश्व का अस्तित्व भी निराधार है। है केवल एक घोर अर्थहीनता या एक सुदीर्घ दुःस्वप्न।"[४]

२. पूर्वजन्म की स्मृति और उसकी सत्यता

यह सच है कि हमें अपने पूर्वजन्म याद नहीं रहते। लेकिन इससे पुनर्जन्म का सिद्धान्त अप्रमाणित नहीं

[४] *Reincarnation, An East-West Anthology*, compiled and Edited by Joseph Head and S.L. Cranston. द जूलियन प्रेस इन्कार्पोरेटिड न्यू यॉर्क, १९६१, पृ० १६१।

होता। प्रायः यह तर्क उठाया जाता है कि अगर हमने पहले भी मनुष्य जीवन बिताये हों तो हमें वे याद क्यों नहीं रहते, और चूँकि वे हमें याद नहीं रहते इसलिये पुनर्जन्म का सिद्धान्त ग्रहणयोग्य नहीं है। लेकिन बात यह है कि हमारा अस्तित्व या उसका अभाव हमारी स्मृति पर निर्भर नहीं होता। हमें अपने बचपन के दिन भी याद नहीं होते। क्या इसका अर्थ यह है कि हम कभी बच्चे नहीं थे ? हमारे लिये इसी जीवन के प्रारम्भिक दिनों की बातें भूल जाना सम्भव है। आश्चर्य नहीं कि हमें अपने पिछले जन्म भी याद नहीं होते। अन्यथा हमारा जीवन बड़ा ही जटिल हुआ होता। कुछ नहीं तो बहुत सारे लोग प्रवंचक ही निकलते।

साधारणतः लोगों को अपने पूर्वजन्म याद नहीं होते। फिर भी प्राचीन तथा आधुनिक कालों में किन्हीं किन्हीं विशेष क्षेत्रों में कुछ ऐसे व्यक्तियों के विवरण मिलते हैं जिन्हें अपने पूर्व के एक या एकाधिक जन्मवृत्तान्त याद हों। अनेक क्षेत्रों में पूर्वजन्म की उनकी स्मृतियों की सत्यता को प्रमाणित भी किया गया है।[५]

[५]मेरी अपनी जानकारी से पूर्वजन्म की स्वतःस्फूर्त स्मृति के एक विवरण का उल्लेख यहाँ अप्रासंगिक न होगा। सन् १९३५

पतञ्जलि के अनुसार ध्यान की एक विशेष विधि से मनुष्य अपने पूर्वजन्म की स्मृतियों को जगा सकता है। जैसा कि उनके 'योगसूत्र' में कहा गया है :

ई० में जब मैं नयी दिल्ली में था, मैंने अपने एक विश्वस्त मित्र से, जो वहाँ एक हाईस्कूल में संस्कृत पढ़ाते थे, सुना कि शान्ति देवी नाम की नौ वर्ष की एक ब्राह्मण-कन्या को, जो कि पुरानी दिल्ली में अपने माता-पिता के साथ रहती थी, बचपन से ही अपने पिछले जन्म की बातें याद थीं। ईसाई युवसंस्था (Y.M.C.A.) के स्थानीय मन्त्री ने मुझसे इस विषय पर छानबीन कर सचाई का पता लगाने के लिये आग्रह किया। किन्तु नयी दिल्ली में रामकृष्ण मिशन आश्रम के प्रधान के रूप में कार्यरत तथा व्यस्त होने के नाते मैं इसे हाथ में न ले सका। इसी के तुरन्त बाद अमेरिका की यात्रा की तैयारियों के लिये मुझे दिल्ली छोड़ना पड़ा।

विभिन्न सूत्रों से मैंने पता लगाया कि अपनी पाँच साल की उम्र से ही यह कन्या कुछ विशेष खाद्यपदार्थ और वस्त्रादि के सम्बन्ध में बीच बीच में कहा करती थी, 'मैंने इसे पहले भी खाया है,' 'मैंने इसे पहले भी पहना है।' लेकिन जब वह बड़ी हुई, वह और भी निश्चय के साथ अपने पिछले जन्म के अनुभवों के बारे में कहने लगी। वह अकसर दृढ़ता के साथ कहती कि वह मथुरा (दिल्ली से दक्षिण-पश्चिम की ओर १५० मील की दूरी पर का एक शहर) में रह चुकी है, कि उसका पति एक वस्त्र-व्यवसायी था और उसे उसका नाम भी याद है लेकिन वह बतलायेगी नहीं (यह इसलिये कि कट्टर हिन्दू नारियों में

'संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम्' अर्थात् अवचेतन संस्कारों के प्रत्यक्षीकरण के फलस्वरूप पूर्वजन्मों का ज्ञान

पति का नाम लेने की रीति नहीं है)। उसके पिता के एक चाचा ने उससे उसके पति का नाम और पता मालूम कर लिया। वह ब्राह्मण नहीं था और घटना के बताये जाने पर वह दिल्ली आया भी था। उसका लड़का भी उसके साथ आया था जो शान्ति देवी से सालभर बड़ा था। लड़के को देखते ही वह बहुत उतावली हो उठी थी।

पूछताछ करने पर पता चला कि इस लड़के की माँ अपने लड़के के जन्म के थोड़े ही समय बाद मथुरा के एक अस्पताल में सन् १९२५ ई० में मर गई थी और शान्ति देवी का जन्म दिल्ली में सन् १९२६ ई० में हुआ था। इस घटना की सत्यता का पता लगाने के लिये एक स्थानीय दैनिक के सम्पादक, दिल्ली नगरपालिका के कमिश्नर तथा एक महाविद्यालय के एक अध्यापक को लेकर दस विशिष्ट नागरिकों का एक दल शान्ति देवी के साथ, जो अपने वर्तमान जन्म में इसके पहले कभी मथुरा नहीं गई थी, ट्रेन से मथुरा गया। उन लोगों ने देखा कि शान्ति देवी उस स्थान से भलीभाँति परिचित थी और उसे उस घर की, जहाँ वह अपना पिछला जीवन बिताये जाने का दावा करती थी, बहुत सी छोटी छोटी बातें मालूम थीं। वह अपने पूर्व के माता-पिता से भी मिलने गई और उसे उस घर को ढूँढ़ निकालने में कोई भी कठिनाई नहीं हुई जहाँ उसके माता-पिता तब भी रहते थे।

होता है।[६] इस प्रकार के अनुस्मरण को संस्कृत में 'जातिस्मर' कहा जाता है। भगवान् बुद्ध के बारे में कहा जाता है कि उन्हें अपने पहले के सभी जन्म याद थे।[७] भगवान् श्रीकृष्ण पूर्वजन्म के बारे में कहते हैं : "बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन। तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप॥" (हे अर्जुन, मैंने बहुत सारे जन्म बिताये हैं और तुमने भी; किन्तु हे परन्तप, तुम्हें वे सब नहीं मालूम, मुझे वे सब मालूम हैं)।[८]

३. मनुष्य के वर्तमान जीवन के सुस्पष्ट ज्ञान से ही उसके पूर्व तथा परवर्ती जीवन का ज्ञान हो सकता है।

मनुष्य क्या है और वह कैसे जीवन बिताता है — इस ज्ञान से ही हम यह निश्चय कर सकते हैं कि वह कहाँ से आता है और कहाँ जाता है। उसके प्रकृत स्वरूप को समझे बिना हम उसके जन्म या मृत्यु का अर्थ नहीं समझ सकते। किसी ने ठीक ही कहा है कि सभी अनुसन्धानों में मानव ही केन्द्रिय तथ्य है।

[६] पातञ्जल-योगसूत्र : ३/१८।

[७] देखिए 'सामञ्ञ-फल सुत्त'।

[८] श्रीमद्भगवद्गीता : ४/५।

मानव तथा उससे सम्बन्धित विषयों का यत्नपूर्वक अध्ययन इस सत्य की ओर निर्देश करता है कि मनुष्य केवल एक भौतिक, या जैविक, या मनोदैहिक सत्ता ही नहीं है। यथार्थ मनुष्य सर्वज्ञ जीवात्मा है, मौलिक चिदात्मक तत्त्व है, जो कि देह, इन्द्रियों, मन और जगत् की बदलती हुई अवस्थाओं का अविकारी द्रष्टा है। अन्तरात्मा ही मनुष्य के व्यक्तित्व में एकमात्र नित्य तत्त्व है जो सभी मौलिक तथा मानसिक तत्त्वों को एक सामञ्जस्यपूर्ण एकत्व में मिलाता है तथा मन, इन्द्रियों तथा देह के भिन्न-भिन्न कार्यों का समन्वय-साधन करता है। भीतर एवं बाहर के सभी परिवर्तनों के बावजूद यह मनुष्य की विशिष्टता को बनाये रखता है। मानव मूलतः ज्योतिर्मय, अविनाशी आत्मा है और वही मुख्यतः इस मनोदैहिक जीव के जीवित होने का कारण है। मनुष्य के स्वरूप के बारे में उपनिषद् कहता है — "वह प्राणों का प्राण है।"[१] अपनी आत्मा के शुद्ध, चेतन स्वभाव के कारण हर व्यक्ति को अपने अस्तित्व का स्वतःस्फूर्त ज्ञान है। उसे अपने आपके तथा अपने जीवन से सम्बन्धित अन्य सभी वस्तुओं के अस्तित्व का बोध है। यह आत्मबोध

[१] "स उ प्राणस्य प्राणः", केनोपनिषद् : १/२।

ही जड़वस्तुओं को चेतन वस्तुओं से पृथक् करता है। यह स्वप्रकाश है। इसे किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं। इस ज्योतिर्मय, अविकारी आत्मा का उद्भव अपने विपरीत स्वभाव के कारण देह, इन्द्रिय या मन या उनकी क्रियाओं से नहीं हो सकता। यह मौलिक है। मनोदैहिक जीवन में यह प्रारम्भ से विद्यमान है। किसी व्यक्ति में परिवर्तनशील बहुविध तत्त्वों का यही एक नियामक है। इसकी उपस्थिति ही किसी भी जीव के अर्थपूर्ण आचरण का अवश्यम्भावी कारण है। जहाँ कहीं भी सप्राणता है वहीं चेतनता है। साक्षात् या परोक्ष चैतन्य से रहित कोई शारीरिक संगठन अगर सम्भव भी हो तो वह या तो एक यंत्र होगा या जड़पदार्थों का एक ढाँचा। सजीव और निर्जीव में यही मौलिक भिन्नता है।

अविकारी होने के कारण आत्मा जन्म, वृद्धि, जरा और मृत्यु से परे है। इसके शरीर के जन्म के साथ इसका जन्म नहीं होता, न ही शरीर के नष्ट होने पर इसकी मृत्यु होती है। जैसा कि भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है : — इसका (आत्मा का) जन्म नहीं होता, न ही इसकी मृत्यु होती है। यह पहले अस्तित्वरहित होकर बाद में अस्तित्वग्रहण करती हो ऐसी बात नहीं। (यह भी नहीं कि पहले अस्तित्वग्रहण करने के बाद

इसके अस्तित्व का नाश हो जाता हो।) यह जन्मरहित है, नित्य है, शाश्वत है, चिरन्तन है। शरीर के नाश होने पर इसका नाश नहीं होता।[१०]

४. आत्मा और मन वंशानुगत नहीं

अब प्रश्न उठता है : मानवशिशु की आत्मा कहाँ से आ उपस्थित होती है ? जन्मरहित इस आत्मा की उत्पत्ति न तो पिता से हो सकती है, न ही माता से। ज्योतिरूप यह आत्मा अपने विपरीत स्वभाव के कारण न ही माता-पिता के शरीर से, न ही उनके मन से और न उनकी दस इन्द्रियों में से किसी से उत्पन्न हो सकती है क्योंकि इनमें से कोई भी स्वभावत: चेतन नहीं। यह कहना निराधार है कि शिशु की आत्मा की उत्पत्ति उसकी माता या पिता की आत्मा से होगी, क्योंकि आत्मा अखण्ड है, अविकारी है। आधुनिक जीवविज्ञान मन के अस्तित्व को मानता है किन्तु आत्मा का नहीं। किन्तु मनोदैहिक जीव में एक अविकारी आध्यात्मिक सत्ता के रूप में आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार किये बिना इन बातों का स्पष्टीकरण

[१०] श्रीमद्भगवद्गीता : २/२०।

नहीं हो पाता कि परिवर्तनशील इन दैहिक और मानसिक तत्वों एवं क्रियाओं का समन्वय कैसे होता है तथा इस समग्रता को एक निश्चित लक्ष्य की ओर कौन संचालित करता है। एडमंड सिनॉट कहते हैं :—

"एक उद्भिद या एक प्राणी के विभिन्न अंशों तथा प्रक्रियाओं को समन्वित करते हुए कौन उन्हें एक जीव में संगठित करता है और कौन इस जीव को उसके जीवन के उपादानों में पूर्वनिर्दिष्ट विकास के लक्ष्य की ओर बढ़ा ले चलता है—ये ऐसी समस्याएँ हैं जिनके समाधान की ओर जीवविज्ञान का विश्वास-भरा कदम थोड़ी ही दूर जा पाया है।"[११]

एक शिशु के लिये अपना मन भी अपने माता-पिता में से किसी से उत्तराधिकार में पाना ठीक इसी प्रकार से असम्भव है। किसी व्यक्ति के मन का उसकी आत्मा और देह से निकट सम्बन्ध होने पर भी वह इनसे अलग होता है। ये तीन उपादान परस्पर स्वतंत्र हैं। मानसिक अवस्थाएँ तथा व्यापार देह और इन्द्रियों की अवस्थाओं तथा उनके व्यापार से भिन्न हैं। जब

[११] एडमंड डब्ल्यू० सिनॉट : *The Bridge of Life* (From Matter to Spirit), साइमन ऐन्ड शुस्टर, न्यू यॉर्क, १९६६, पृ० १२८।

तक मन का योग नहीं होता तब तक शरीर का कोई भी अंग काम नहीं कर सकता। किन्तु शरीर और उसके अंगों के अक्षम होने पर भी मन काम कर सकता है। इन्द्रियों से युक्त मन के द्वारा ही आत्मा को भौतिक वस्तुओं का अनुभव होता है। आत्मा, मन और शरीर, इन तीन मौलिक उपादानों के परस्पर सहयोग से ही मानव एक संगठित संस्थान के रूप में काम कर सकता है। इनके पारस्परिक सम्पर्क के बिना किसी प्राणी का जीवित रहना सम्भव नहीं। प्रारम्भ से ही ये तीन स्वतंत्र तत्त्वों के रूप में स्थित हैं। इन तीनों में से किसी एक की उत्पत्ति अवशिष्ट दोनों से नहीं हो सकती। जीवनधारण की प्रक्रियाएँ सदा ही मनोदैहिक होती हैं। आत्मोन्नति की एक परिकल्पना भ्रूण में ही निहित होती है। इस परिकल्पना के पीछे अवश्य ही उसका उद्भावक होगा। प्रसिद्ध शरीर-विज्ञानी चार्ल्स शेरिंगटन कहते हैं — "यह ऐसे है जैसे कोई अन्तर्निहित मूलतत्त्व किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिये हरेक जीवकोश को आवश्यक ज्ञान देकर प्रेरित कर रहा हो।"[१२] भौतिक शरीर की तरह

[१२] शेरिंगटन : *Man on His Nature*, Gifford Lectures,

मन को विखण्डित नहीं किया जा सकता। यह मन इतना अधिक सूक्ष्म है कि इसे विभाजित नहीं किया जा सकता। शरीर को विखण्डित कर डालने पर मन विखण्डित नहीं हो जाता। मन के विषय परिवर्तित होते रहने पर भी मन स्वयं अपरिवर्तित ही रहता है। मन की अखण्डता ही मृत्यु तथा नवजन्म के उपरान्त व्यक्ति की वैयक्तिकता की रक्षा करती है। अतः बच्चे का मन माता-पिता के मन का अंश नहीं हो सकता। दोनों से स्वभावतः स्वतंत्र होने के कारण इसका उद्भव न तो अपने माता-पिता में से किसी के शरीर से, न ही उनकी आत्मा से हो सकता है। माता-पिता से सन्तान को सिर्फ स्थूल-शरीर के मौलिक उपादान प्राप्त होते हैं। इनके माध्यम से माता-पिता की शारीरिक विशेषताओं का बच्चे में अल्पाधिक संक्रमण हो सकता है। बच्चे के मन और उसकी आत्मा का भी विकास क्या इन शारीरिक उपादानों से हो सकता है? अगर नहीं, तो वे कहाँ से आते हैं?

१९३७-३८ (C.U.P.) Quoted by Raynor C. Johnson : *The Imprisoned Splendour*, हार्पर ऐन्ड ब्रदर्स, न्यू यॉर्क, १९५३, पृ० ५५।

५. आनुवंशिकता का अर्थ। व्यक्तिगत भिन्नताओं के पीछे अवश्य ही कोई यथार्थ कारण होगा। संयोग या आकस्मिकता इसका कारण नहीं हो सकती।

'जो जैसा है वह वैसे ही को जन्म देता है'— जीवविद्या के इस साधारण नियम को पुनर्जन्म का सिद्धान्त स्वीकार करता है। मनुष्य का जन्म मनुष्य से होता है, हाथी का हाथी से, चींटी का चींटी से। उद्भिदों के लिये भी यह नियम सत्य है। एक गूलर का पेड़ एक गूलर के पेड़ से उत्पन्न होता है, एक सेव का पेड़ एक सेव के पेड़ से। गुलाब के पौधे गुलाब के पौधों से ही उत्पन्न होते हैं। एक जीवित वस्तु अपनी ही जाति की एक और जीवित वस्तु से उत्पन्न होती है, एक प्राणहीन वस्तु से कभी नहीं। सभी प्राणियों में उपस्थित आत्म-प्रजनन के इस गुण को आनुवंशिकता (heredity) कहते हैं। निष्प्राण जड़ से जीव को यही गुण भिन्न करता है। इस महत्त्वपूर्ण भिन्नता के कारण ही ये एक दूसरे से उत्पन्न नहीं हो सकते। मैं नीचे आधुनिक जीवशास्त्रियों की दी हुई आनुवंशिकता की परिभाषाएँ दे रहा हूँ:—

अन्तिम विश्लेषण में यह स्थिर होता है कि आत्म-प्रजनन, अर्थात् प्राणिमात्र का वह धर्म जो प्राणियों

को निष्प्राण जड़वस्तुओं से पृथक् करता है, आनुवंशिकता है।[१३]

किसी जीव की हर नयी पीढ़ी अपने माता-पिता के बहुत अनुरूप होती है। दो बिल्लियों के सहवास से हमेशा बिल्लियों का ही जन्म होता है और दो सियामी बिल्लियों के सहवास से सियामी बिल्लियों का ही जन्म होता है, किसी और जाति की बिल्लियों का नहीं। किसी वंशविशेष की पीढ़ियों के क्रम में कुछ विलक्षणताएँ बार-बार प्रकट होती हैं। सदियों से मनुष्य जानता है कि "जो जैसा है वह वैसे को ही जन्म देता है," तथा असमान जातियों के मिलन से बिल्कुल नयी प्रजातियों के जन्म होने की सम्भावना रहती है। अलग अलग जीवों की अपने अपने माता-पिता के सदृश होने की इस प्रवणता को आनुवंशिकता कहते हैं।[१४]

यह साधारण सादृश्य व्यक्तिगत विविधता के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं करता। एक बृहत्तर सन्दर्भ में

---

[१३] एडमंड डब्ल्यू० सिनॉट, एल० सी० डन्, थीयोडोसीउस डॉबझैन्स्की : *Principles of Genetics*, ५ वाँ संस्करण, मैक्ग्रा-हिल बुक कम्पनी, इन्कार्पोरेटिड, न्यू यॉर्क, १९५८, पृ० २।

[१४] क्लॉद ए० विली : *Biology*, ४था संस्करण, डब्ल्यू० बी० सॉन्डर्स कम्पनी, फिलाडेल्फिया, १९६२, पृ० ४५२।

आनुवंशिकता में सादृश्य और वैसादृश्य दोनों ही अन्त-र्भुक्त हो जाते हैं। अपने माता-पिता तथा वंश के अन्य प्राणियों से अपने सादृश्य के बावजूद हर प्राणी अपनी विशिष्टता बनाये रखता है। वास्तव में हर प्राणी एक विशिष्ट सत्ता है। इस विशिष्टता का क्या कारण है? दो स्वतन्त्र व्यक्तियों में मौलिक अन्तर उनके मानसिक गठन में होता है जो उन्हें अपने माता-पिता से प्राप्त नहीं होता। दो जुड़वें बच्चे भी अपनी घनि-ष्ठतम शारीरिक समानता के बावजूद अपनी अन्त:-प्रकृतियों में कहीं भिन्न होते हैं। हर व्यक्ति अपना मन अपने साथ लाता है तथा उसका विकास अपने विशेष ढंग से करता है। विविधता का मूल कारण जीव की अन्त:प्रकृति में होता है, न कि उसकी परिवेशी अवस्थाओं में। आधुनिक प्रजनन-विद्या विवि-धताओं की इस समस्या का कोई सन्तोषप्रद समाधान ढूँढ़ निकालने में असमर्थ रही है।

जहाँ तक नवजातक के शरीर का प्रश्न है, आधुनिक जीवशास्त्रियों के मनुष्य-जन्म सम्बन्धी प्रक्रिया तथा विधि के वर्णन का वेदान्त खण्डन तो नहीं करता किन्तु कुल मिलाकर वह इसे नवजातक की उत्पत्ति की यथोचित व्याख्या भी नहीं मानता। अगर मानव मुख्यत: प्राण से युक्त एक शरीर ही होता तो उस

दशा में माता-पिता के दैहिक अंशों का जननकोशों के द्वारा संचार ही उसकी उत्पत्ति की व्याख्या मान ली जाती। किन्तु उसके शरीर से कहीं अधिक महत्त्व-पूर्ण उसका मन तथा उसकी आत्मा है जिनमें से किसी का भी कारण, जैसे कि पहले भी स्पष्ट किया जा चुका है, उसके माता-पिता नहीं हैं। उसके शरीर के लिये भी उसके माता-पिता पूरी तरह जिम्मेदार नहीं ठहराये जा सकते। इसके मूल का सन्धान हमें उसके पिछले जन्म में करना पड़ेगा। जड़ एककों के अर्थात् माता-पिता के जननकोशों के देहात्मक उपादानों के अर्थात् शुक्राणु एवं डिम्बाणु के आकस्मिक मिलन का फल एक मनुष्य नहीं हो सकता।

६. आधुनिक जीवविज्ञान के अनुसार मनुष्य का जन्म :—

आधुनिक जीवविज्ञान के अनुसार मनुष्य-देह में — उद्भिदों तथा प्राणियों जैसे अन्य बहुकोशी जीवों की तरह — असंख्य अतिसूक्ष्म कोश होते हैं जिन पर उसका गठन तथा कार्य निर्भर होता है। हर कोश एक सूक्ष्म-काय जीव है जो जीवन का मौलिक एकक माना जाता है। "नये कोश पूर्ववर्ती कोशों के विभाजन से ही बनते हैं," जैसा कि डा० विली लिखते हैं —

"जीवकोशवाद के अनुसार कोश ही शारीरिक संगठन और कार्यक्षमता का वह आधारभूत एकक है जिसमें प्राणियों की सारी विशेषताएँ विद्यमान रहती हैं।"[१५] साधारण देहकोशों से जननकोश भिन्न हैं जिनमें प्रजनन की क्षमता होती है। पुरुषदेह के जननकोशों को शुक्राणु कहते हैं और नारीदेह के जननकोशों को डिम्बाणु। उभय कोशों का साधारण अँग्रेजी नाम 'गैमीट' है। शुक्राणु डिम्बाणु से क्षुद्रतर है लेकिन वह अधिक सक्रिय है। खाली आँखों से दोनों ही नहीं दीखते। हर 'गैमीट' एक स्वतन्त्र कोश है। जबकि माता-पिता के अर्जित गुण देहकोशों को प्राप्त होते हैं, उनकी आनुवंशिक विशेषताएँ गैमीटों को — अर्थात् डिम्बाणु और शुक्राणु को प्राप्त होती हैं। इस तरह आधुनिक जीवशास्त्रियों के मतानुसार माता-पिता के आनुवंशिक गुण तो सन्तान में संचारित होते हैं, लेकिन उनके अर्जित गुण नहीं।

यह मत लैमार्क के इस मत का खण्डन करता है कि सन्तान माता-पिता के अर्जित और वंशानुगत दोनों प्रकार के गुणों को प्राप्त करती है। जर्मन प्राणीशास्त्री

[१५] वहीं पृ० ३५।

आउगुस्ट वाइसमान ने ही पहली बार यह तर्क उठाया कि अर्जित गुण कभी भी वंशानुगत नहीं होते। प्रमाणों के द्वारा समर्थित होने के कारण उनका मत ही तब से मान लिया गया है।

जननकोशों में दण्डाकार वस्तुओं के कुछ समूह होते हैं जिन्हें गुणसूत्र या 'क्रोमोसोम' (chromosome) कहते हैं। मनुष्य के हरेक कोश में २३ जोड़े क्रोमोसोम होते हैं। इन क्रोमोसोमों में 'जीन' (gene) नाम के जड़ एकक की उपस्थिति की कल्पना की गई है। इनमें से प्रत्येक जीन एक या एकाधिक गुणों के वंशानुक्रमण (hereditary transmission) का नियंत्रण करता है। साधारणतया उन्हें आनुवंशिक एकक (hereditary units) कहते हैं। विलियम बेक लिखते हैं :—

आज तक किसी से भी एक अविमिश्र (naked) जीन की जाँच सम्भव न हो सकी और इसका कारण यही है कि केवल सन्तान के जाननिक (genetic) परीक्षण से ही जीन के गुणों का पता लग सकता है। वैसे जीन का अपना अस्तित्व आनुमानिक ही रह गया है और बड़ा विलक्षण भी, क्योंकि जैसा कि इसके छोटे आकार और इसके स्थायित्व से लगता है इसका

आभ्यन्तरीण द्रव्यात्मक संगठन बड़ा ही जटिल होगा।[१६]

दूसरे जीवशास्त्री भी मानते हैं कि जाननिक वंशानुक्रम का सिद्धान्त अनुमान पर ही आधारित है :—

यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि जीन (gene) के अस्तित्व के बारे में हम दृढ़निश्चय इसलिये नहीं है कि हमने उन्हें देखा है या उनका विश्लेषण किया है (प्रजनन-विज्ञान ने अभी तक इन दोनों में से किसी में सफलता नहीं पाई है) बल्कि इसलिये कि जीन के अस्तित्व के अनुमान पर ही मेंडेल के नियमों की व्याख्या सन्तोषजनक होती है। गुणों के वंशानुक्रम के अध्ययन के लिये जीन की यह परिभाषा ही पर्याप्त होगी कि यह माता-पिता से सन्तान में संचारित एक ऐसा एकक है जो एक निश्चित परिवेश में रहनेवाले व्यक्तियों में कुछ निश्चित गुणों के विकास के लिये दायी हो। इस परिभाषा से निरूपित जीन एक काल्पनिक एकक है और इन जीनों से सम्बन्धित विद्याओं के समूह को प्राविधिक प्रजनन-विज्ञान (formal genetics) कहते हैं। अगर क्रोमोसोम (chromosome) अज्ञात होते या अनुवीक्षण यंत्रों का अस्तित्व न भी

---

[१६] विलियम एस० बेक : *Modern Science and the Nature of Life*, हार्कोर्ट, ब्रेस् ऐन्ड कम्पनी, न्यू यॉर्क, १९५७, पृ० २१४।

होता, तब भी प्राविधिक प्रजनन-विज्ञान का विकास हो गया होता।[१७]

वस्तुतः बच्चे का जाननिक गठन ही माता-पिता के साथ उसका एकमात्र योगसूत्र है। सहवास के समय असंख्य शुक्राणु छोड़ दिये जाते हैं। एक ही शुक्राणु कहीं चलकर संयोगवश एक डिम्बाणु से जा मिलता है और भ्रूणाणु (zygote) नाम के एक नये कोश को जन्म देता है। यह भ्रूणाणु यानी निषिक्त डिम्बाणु ही आगे चलकर नियत समय पर एक व्यक्तिविशेष में परिणत होता है। कहा जाता है कि "एक बार में निकले लाखों शुक्राणुओं में से केवल एक ही एक डिम्बाणु को जननक्षम (fertilize) करता है।"[१८] इस प्रकार आधुनिक जीवशास्त्र (biology) के अनुसार व्यक्ति-विशेष के जीवन की सूचना पुरुष एवं स्त्री-जननकोषों के केन्द्रों (nucleus) के मिलन से उत्पन्न युग्मज (भ्रूणाणु–zygote) से ही होती है। इस जननक्षम डिम्बाणु में जनक से २३ तथा जननी से २३ क्रोमोसोम होते हैं। माता-पिता दोनों के जीन (gene), उनकी आनुवंशिकता के एकक, इन्हीं में होते हैं। क्रोमोसोम और जीन एक

[१७] *Principles of Genetics*, पृ० ५४-५५।
[१८] क्लॉद ए० विली : *Biology*, पृ० ४२४।

ही एकक के रूप में काम करते हैं। आधुनिक जीव-शास्त्रियों के मत नीचे दिये जा रहे हैं:—

"शरीर का आकार या उसका संगठन एकदम प्रारम्भ यानी गर्भाधान के समय से ही अत्यन्त विकसित अवस्था में होता है। विकसित होने के साथ साथ यह संगठन परिवर्तनों के एक नियमित क्रम में से होकर गुजरता है जिसके परिणामस्वरूप पहले एक भ्रूण (foetus) का तथा इसके उपरान्त एक पूर्णांग देह का निर्माण होता है।

"जिन डिम्बाणुओं तथा शुक्राणुओं से शरीर की सृष्टि होती है, उनके द्वारा वाहित जीन (gene) ही वे स्थूल वस्तुएँ हैं जिन्हें कोई अपने माता-पिता से आनुवंशिक रूप से प्राप्त करता है।"[१९]

"डिम्बाणु तथा शुक्राणु के ये नाभिक (nucleus), प्रजननात्मक द्रव्यों के ये छोटे छोटे समूह, जो इतने सारगर्भित होते हैं और जिनमें से इतना सारा उत्पन्न होता है, वास्तव में सृष्टि के सर्वाधिक विलक्षण सजीव पदार्थ हैं।"[२०] जीव के विकास की व्याख्या करने में जीवशास्त्रियों ने अनुमान तथा आकस्मिक संयोग

[१९] *Principles of Genetics*, पृ० ७।

[२०] वही, पृ० १७।

(chance) इन दोनों का आश्रय लिया है। श्री डॉब-झैन्स्की का कहना है :—

"किसी बच्चे को अपने पिता के जीनों का अर्धांश तथा अपनी माता के जीनों का अर्धांश मिलता है, किन्तु माता और पिता के कौन से विशेष जीन उनके किस बच्चे में प्रेरित होते हैं यह संयोग की बात है। कौन से उत्परिवर्तन साधित होते हैं तथा कब और कहाँ, यह भी संयोग की ही बात है।"[२१]

७. आधुनिक जीवविद्या एक असामान्य प्रतिभा तथा एक अत्यन्त जड़बुद्धि के जन्म के सम्बन्ध में सन्तोषजनक कोई व्याख्या नहीं दे पाती।

जूलियन हक्स्ले के अनुसार यह संयोग की ही बात है। उनका कहना है :—

"डिम्बाणु एवं शुक्राणु ही पीढ़ियों के भाग्य के वाहक होते हैं। संयोग की अनन्त सम्भावनाओं में से डिम्बाणु किसी एक ही को वास्तव रूप देता है, भले ही लाखों

[२१] थियोडोसिउस डॉबझैंस्की : *The Biology of Ultimate Concern*, दि न्यू अमेरिकन लायब्रेरी इन्कार्पोरेटिड, न्यू यॉर्क, १९६७, पृ० १२६।

शुक्राणुओं के जोड़ों से इसका सामना होता है जिनमें से प्रत्येक वस्तुतः एक दूसरे से अपने चरित्र और गठन में भिन्न होते हैं। इसके बाद एक बृहत् व्यक्तित्व के आरम्भ की सृष्टि के लिये डिम्बाणु एवं शुक्राणु के मिलन का वह चरम नाटकीय मुहूर्त उपस्थित होता है।... यहाँ भी ऐसा लगता है कि सम्भावित लाखों मिलनों में से कौन सा विशेष मिलन सफल होगा यह भी पूर्णतः संयोग की ही बात है। किसी एक मिलन से एक असामान्य प्रतिभा का जन्म हो सकता था, किसी और से एक वज्रमूर्ख का — और इस प्रकार से हम इसके यथार्थ तात्पर्य को ग्रहण करते हुए मानवमन के बहुत सारे भय और अन्धविश्वासों को दूर भगा सकते हैं। पुनर्जन्म के किसी भी सिद्धान्त के लिये अब कोई आधार ही शेष नहीं रहता।"[२२]

जूलियन हक्स्ले की तरह यह सोचना कि एक प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति और एक मूर्ख का जन्म शुक्राणु एवं डिम्बाणु के आकस्मिक मिलन का फल है — एक परिचित विषय की भले ही एक युक्तिपूर्ण व्याख्या प्रतीत होती हो,

[२२] जूलियन हक्स्ले : *What Dare I Think* (१९३१)। Quoted in *Reincarnation: An East-West Anthology*, पृ० २९२-९३।

पर यह इस कथन के ही समान है कि "मुझे इसके वास्तविक हेतु का ज्ञान नहीं है।" कार्य-कारण नियम से व्यवस्थित इस विश्व में किसी का यह कहना कि एक सर्वजनगोचर विषय का कारण आकस्मिक संयोग है, जगद्-व्यापार की गहराइयों में प्रविष्ट होने की उसकी असमर्थता का द्योतक है। आकस्मिक संयोग का आश्रय लेना दैवाधीन होने से भी बुरा है। जिस तरह जीवशास्त्री जीवन की कुछ प्रत्यक्ष घटनाओं की व्याख्या पर्यवेक्षण की सीमा के बाहर जीन जैसी किसी वस्तु की कल्पना की सहायता लिये बिना नहीं कर सकते, उसी तरह प्राणियों और प्राणरहित जड़ों द्वारा निर्मित इस व्यवस्थित विश्व में भी ऐसी सर्वमान्य घटनाएँ हैं जिनकी व्याख्या मन एवं आत्मा जैसे अतिसूक्ष्म तत्त्वों को स्वीकार किये बिना सम्भव नहीं है, जो भले ही इन्द्रियगोचर नहीं हैं, पर बुद्धिग्राह्य हैं तथा इन्द्रियातीत अवस्था में जिनकी अनुभूति की जा सकती है।

कर्मवाद के अनुसार न तो जीवजगत् में, न ही जड़जगत् में, इस विश्व में कहीं भी आकस्मिक संयोग का कोई अवकाश नहीं। कारण के बिना कुछ भी नहीं होता। जैसा कारण होता है उसका परिणाम भी वैसा ही होता है। परिणाम कारण के अनुरूप होता है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त जिस कर्मवाद पर आधारित

है वह मानवी धरातल पर नैतिक नियम के रूप में कार्यरत कार्य-कारण का सार्वभौम नियम है। हम जैसा बोते हैं वैसा ही काटते हैं। किसी व्यक्ति के जन्म और उसकी वृद्धि की व्याख्या न उसकी आनुवंशिकता, न उसके परिवेश और न ही उनके पारस्परिक सहयोग से प्राप्त होती है। पुनः, असामान्य प्रतिभाओं का जन्म सामान्य माता-पिता से होता है, जड़बुद्धियों का स्वस्थ माता-पिता से, मानसिक रूप से स्वस्थ बच्चों का जन्म मानसिक अस्वस्थ माता-पिता से तथा दुष्ट बच्चों का सच्चरित्र माता-पिता से। इन अनियमों की व्याख्या केवल कर्मवाद ही कर सकता है। बात यह है कि बच्चा माता-पिता के पास आता है, वह उनके द्वारा उत्पन्न नहीं किया जाता। व्यक्तिविशेष की उत्पत्ति और विकास में वह व्यक्ति स्वयं ही मुख्य उपादान है। अन्य सभी वस्तुएँ उसकी सहायक हैं। यह विशेषकर अद्भुत शिशु-प्रतिभाओं में स्पष्ट है। पूर्व एवं पश्चिम के देशों को लेकर दुनिया में अब तक ऐसे बच्चे संख्या में बहुत कम नहीं हुए। हम केवल ऐतिहासिक काल के दो दृष्टान्तों का उल्लेख करेंगे।

अद्वैत वेदान्त के सर्वोत्तम व्याख्याता शंकराचार्य केवल ३२ वर्ष तक जीवित थे (सन् ६८६-७१८ ई०)। अपनी सात वर्ष की आयु में उन्होंने एक पुस्तकालय

सदृश विशाल वैदिक साहित्य पर अधिकार प्राप्त कर लिया था। शिष्य की प्रतिभा को देखकर उनके विद्वान् आचार्यप्रवर अत्यन्त आश्चर्यचकित हो गये थे। किशोर शंकर की अगाध विद्वत्ता और ज्ञान की सभी प्रशंसा करने लगे। उनका यश दूर दूर तक फैल गया। केरल के राजा उन्हें सम्मानित करने के लिये आ उपस्थित हुए। नौ साल की आयु में उन्होंने संन्यासधर्म की दीक्षा ली तथा बारह साल की आयु प्राप्त होने से पहले ही उन्होंने आध्यात्मिक अनुभूतियों की उच्चतम अवस्था — निर्विकल्प समाधि—लाभ कर ली। अद्वैत वेदान्त की अनुपम ग्रन्थावली के रूप में उनकी साहित्यिक कृतियों में से अधिकांश की रचना उनकी १६ वर्ष की अवस्था तक पहुँचने के पहले ही हो चुकी थी। शंकराचार्य ने, जो एक सर्वतोमुखी प्रतिभा थे—सत्यद्रष्टा थे, दार्शनिक थे, महापुरुष थे, एक अथक धर्मसंस्कारक थे, कवि थे, सर्वोत्तम गद्यकार थे, उच्चतम कोटि के एक धर्माचार्य थे—वैदिक धर्म को अजेय बना दिया। ३२ वर्ष की अल्पायु की उनकी उपलब्धियाँ संसार के विस्मयों में हैं।

स्कॉटलैंड के दार्शनिक विलियम हैमिल्टन, जो सन् १७८८ ई० से सन् १८५६ ई० तक जीवित थे, अपने बचपन में आधुनिक काल की एक विस्मयकारी प्रतिभा

सिद्ध हुए। कहा जाता है कि अपनी तीन साल की आयु में ही उन्होंने हिब्रू भाषा सीखना प्रारम्भ किया। उनकी सात साल की अवस्था में डबलिन शहर के ट्रिनिटी कॉलेज के एक सदस्य ने उनके बारे में कहा था कि ये सदस्य-पद के कई प्रार्थियों से भाषाओं की कहीं अधिक जानकारी रखते हैं। अपनी १३ साल की आयु में वे १३ भाषाएँ बोल सकते थे। ग्रीक, लैटिन तथा यूरोप की आधुनिक भाषाओं को छोड़कर इन भाषाओं में फारसी, अरबी, संस्कृत, हिन्दुस्तानी तथा मलाया की भाषा भी शामिल थीं। १४ साल की आयु में उन्होंने फारस के राजप्रतिनिधि को, जो उन दिनों डबलिन की सैर पर आये हुए थे, एक अभिनन्दन-पत्र लिखा और उस राजप्रतिनिधि ने कहा कि सारे ब्रिटन में कोई ऐसा न था जो फारसी भाषा में उस तरह का पत्र लिख सके। छः साल की आयु में वह कठिन गणितिक समस्याओं का समाधान हँसते-खेलते कर देता था और जब वह १८ साल का हुआ, आयर्लैंड के राज खगोल-शास्त्री डा० ब्रिकली ने उसके बारे में कहा— "मैं यह नहीं कहता कि यह नवयुवक अपनी आयु का पहला गणितज्ञ होगा। मेरा कहना तो यह है कि यह अपनी आयु का पहला गणितज्ञ है।"[२३]

[२३] देखें, रेनर सी० जॉनसन्: *The Imprisoned Splendour*,

यह बात स्पष्ट है कि प्रतिभाओं की असामान्य क्षमता न तो आनुवंशिकता का, न परिवेशी अवस्थाओं का और न ही इन दोनों के मिले-जुले प्रभाव का परिणाम है। यह क्षमता अवश्य ही इन व्यक्तियों ने अपने पूर्ववर्ती जीवनों में अर्जित की होगी। पुनर्जन्म का सिद्धान्त यह निश्चयपूर्वक कहता है कि व्यक्तिविशेष ही जन्म-मृत्यु के क्रम से गुजरता है। एक ही व्यक्ति भिन्न-भिन्न शरीरों के वस्त्र पहनकर उपस्थित होता है पर उसका एक ही मन, जिसे देह से पृथक् किया जा सकता है, अनवरत उसके साथ रहता है। उसकी प्रगति प्रथमत: उसके मन के विकास पर निर्भर करती है और द्वितीयत: उसके शरीर के विकास पर। आधुनिक जीवविज्ञान शरीर से मन की पृथक् सत्ता को स्वीकार तो करता है पर उसे शरीर से संलग्न एक अंश मानता है। फलस्वरूप उसकी दृष्टि में मन शरीर से पृथक् नहीं हो सकता। दोनों में कोई स्पष्ट भेद नहीं है। आनुवंशिकता के जिन एककों से शरीर का जन्म होता है उन्हीं जीनों (gene) से मन की भी उत्पत्ति होती है। दोनों ही माता-पिता से संक्रमित भौतिक कणिकाओं से उत्पन्न होते हैं। किन्तु मन तथा शरीर की प्रकृतियों

पृ० ३७९। *North British Review*, सितम्बर १८६६ में पहली बार उद्धृत।

के भेद से इतना तो स्पष्टतः ही परिलक्षित होता है कि एक ही प्रकार के उपादान से दोनों का निर्माण असम्भव है।

८. मानसिक विशेषताओं का वंशानुक्रमण सम्भव नहीं। शिशु का विकास उसकी अन्तःप्रकृति पर निर्भर करता है, न कि उसकी आनुवंशिकता या पारिपार्श्विक अवस्था पर।

मन की एक विशेषता यह है कि वह चैतन्य का, जो कि आत्मा का स्वरूप है, संचार कर सकता है। यह चैतन्य मन के माध्यम से ही शरीर में संचारित होता है, शरीर से मन में नहीं। मन को देह से हटा देने पर देह की संवेदनशीलता जाती रहती है और उसकी ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय इन दसों इन्द्रियों में से कोई भी काम नहीं कर पाती। किन्तु मन ठीक काम करता रहता है। स्वप्नावस्था में शरीर निष्क्रिय-प्राय ही पड़ा रहता है किन्तु मन प्रचण्ड रूप से कर्मव्यस्त होता है। शारीरिक और मानसिक कार्य पूर्णतः पृथक् हैं। शरीर और इन्द्रियाँ जब क्रियाशील न हों, तब कोई बड़ी तीव्रता के साथ किसी बात पर विचार कर सकता है, कुछ अनुभव कर सकता है, कोई संकल्प कर सकता है, किसी बात की कल्पना

कर सकता है, किसी विषय के स्मरण में लगा रह सकता है। मन के कार्यों में अन्तर्निहित चैतन्य का स्पष्ट प्रमाण मिलता है जो शरीर के कार्यों में नहीं मिलता। मन को जड़पदार्थ की तरह विखण्डित भी नहीं किया जा सकता। उसका रासायनिक विश्लेषण भी सम्भव नहीं। मन चाहे कहीं भी जा सकता है, शरीर नहीं।

देह तथा मन में प्रकृतिगत भिन्नता होने के कारण दैहिक लक्षण देह में तथा मानसिक लक्षण मन में होते हैं। इसलिये मानसिक लक्षणों का आनुवंशिक रूप से माता-पिता के शरीरों की कणिकाओं के माध्यम से प्राप्त होना असम्भव है। क्लॉद विली के अनुसार "मानसिक शक्ति या बुद्धि का वंशानुक्रम मानवीय आनुवंशिकी (human genetics) की सबसे महत्त्वपूर्ण एवं साथ ही सबसे कठिन समस्या है।"[२४]

जो हो, आधुनिक जीवशास्त्र के अनुसार माता-पिता के दैहिक तथा मानसिक दोनों प्रकार के लक्षण ही सन्तान में वंशानुगत होते हैं। कैसे? "शुक्राणु तथा डिम्बाणु के नाभिकों का जीवित उपादान उन सभी गुणों का, जिन्हें नवजातक अपने माता-पिता से प्राप्त

[२४] क्लॉद ए० विली: *Biology*, पृ० ५०३-४।

करता है, संचार करता है। वर्ण, आकार, गठन आदि गुण स्वयं तो जीवकोशों में उपस्थित नहीं रहते किन्तु जीवकोशों में इन गुणों के स्थान पर ऐसा कुछ उपस्थित रहता है जो उन्हें नवजातक में उत्पन्न कर सके। मनुष्य में उसके बालों का रंग, उसके शरीर और उसके अंग-प्रत्यंगों की बनावट, उसकी रचनागत न्यूनताएँ, विभिन्न रोगों के प्रतिरोध की उसकी क्षमता, उसके मानसिक लक्षणसमूह, उसकी योग्यताएँ एवं त्रुटियाँ—सभी वंशानुगत होते हैं तथा इसीलिये यह आवश्यक है गैमीटों में इनके प्रतिनिधि उपस्थित हों। इस प्रकार गैमीटों में ऐसे घटकसमूह हैं जो प्रौढ़ता के लक्षणों की उत्पत्ति के लिये परिवेश को तथा परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करते हैं।''

जीवशास्त्र के अनुसार व्यक्ति के विकास के क्षेत्र में आनुवंशिकता तथा परिवेश यही दो निर्णायक हैं। इनमें आनुवंशिकता मौलिक है। परिवेश का प्रभाव आनुवंशिकता पर अर्थात् माता-पिता से प्राप्त व्यक्ति के दैहिक एवं मानसिक संगठन पर निर्भर करता है। कॉन्कलिन कहते हैं– ''निस्सन्देह विकास के घटक या उसके कारण केवल देहकोश (germ) में ही नहीं बल्कि परिवेश में भी उपस्थित हैं। केवल अन्तर्निहित शक्तियों में ही नहीं, बाहरी शक्तियों में भी ये उपस्थित हैं।

यह भी निश्चित है कि विकास के निर्देशक तथा नियामक कारण प्रधानतः आन्तरिक हैं एवं देहकोशों के संगठनों में उपस्थित रहते हैं जबकि विकास पर परिवेशी घटकों का प्रभाव मुख्यतः प्रेरणात्मक, निरोधात्मक अथवा संशोधनात्मक है।"[२५]

क्लॉद विली के अनुसार :—

"मानवी लक्षणों के निर्णय करने में आनुवंशिकता तथा परिवेश इनमें से किसका प्रभाव अधिक है इस विषय पर कभी बड़ा वादविवाद हुआ करता था। अब यह स्पष्ट है कि दैहिक एवं मानसिक लक्षण आनुवंशिक तथा परिवेशी घटकों के पारस्परिक प्रभाव से उत्पन्न होते हैं।"[२६]

पुनर्जन्म के सिद्धान्त के अनुसार एक व्यक्ति अपने माता-पिता से उन्हीं दैहिक लक्षणों को प्राप्त करता है जिन्हें उसने अपने कर्मफल के रूप में अर्जित किया है। किन्तु वह अपने मानसिक लक्षणों को इस प्रकार अपने माता-पिता से प्राप्त नहीं करता। अपना मन

[२५] एडविन् ग्रान्ट् कॉन्कलिन : *Heredity and Environment in the Development of Men*, प्रिन्स्टन् यूनिवर्सिटी प्रेस, प्रिन्स्टन्, न्यू जर्सी, १९१९, पृ० ५९-६०।

[२६] क्लॉद ए० विली : *Biology*, पृ० ५०६।

वह अपने साथ लाता है। जैसा कि हम देख चुके हैं — मानसिक विलक्षणताओं की वंशानुगति सम्भव नहीं है। भौतिक कणिकाओं के माध्यम से माता-पिता के मानसिक लक्षण सन्तान में संक्रामित नहीं हो सकते। माता-पिता और उनकी सन्तति के मानसिक लक्षणों में जो कुछ भी अनुरूपता पाई जावे वह इस कारण पायी जाती है कि कर्मवाद के सिद्धान्त के अनुसार "जो जैसा है वह वैसे को ही आकर्षित करता है" (Like attracts like)।

किसी व्यक्ति की जन्मजात दैहिक एवं मानसिक प्रकृति पर ही उसका विकास निर्भर है। परिवेशी अवस्थाएँ उसके विकास में केवल सहायक या बाधक हो सकती हैं। यह निश्चित है कि मनुष्य जिस परिवेश में निवास करता है उससे अत्यन्त प्रभावित होता है। उसका विकास साधारणतः उसकी अन्तःप्रकृति तथा उसके परिवेश में पारस्परिक प्रतिक्रिया का फल है। किन्तु इसमें उसकी अन्तःप्रकृति का प्रभाव ही अधिक है। मनुष्य परिवेश का दास नहीं है। बहुधा वह अपनी स्वाभाविक प्रवणताओं तथा योग्यताओं के अनुरूप परिवेश निर्वाचित कर लेता है। वह अपने परिवेश की अवस्थाओं में उन्नति कर सकता है, अपने विकास के लिये उनका पूर्ण उपयोग कर सकता है तथा उनके

प्रभाव से मुक्त भी हो सकता है; यहाँ तक कि वह अपने परिवेश के निर्माण कर लेने की शक्ति का भी विकास कर सकता है।

आत्मज्ञान-सम्पन्न महापुरुष जीवन की परिवर्तनशील अवस्थाओं में अविचलित रहता है। भगवान् श्रीकृष्ण ऐसा ही कहते हैं—"दुःखों में जो विचलित नहीं होता, सुखों की जिसे कोई इच्छा नहीं है, तथा जो आसक्ति, भय और क्रोध से मुक्त है, ऐसे व्यक्ति को स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।"[२७]

९. निषिक्त डिम्बाणु में निहित होने के कारण ही उसमें से पूर्णावयवयुक्त मानव का विकास होता है। वह कहाँ से आता है? माता-पिता से तो नहीं। विकास केवल मनोदैहिक संगठन का होता है — आत्मा का नहीं।

आधुनिक प्रजनन-विज्ञान के अनुसार निषिक्त डिम्बाणु अथवा भ्रूणाणु (zygote) अर्थात् शुक्राणु एवं डिम्बाणु के नाभिकों के मिलन से उत्पन्न एककोश ही व्यक्ति के अस्तित्व की पहली अवस्था है। यही चलकर उचित समय पर एक प्रौढ़ व्यक्ति के रूप में विकसित होता

[२७] श्रीमद्भगवद्गीता, २/५६।

है। गर्भाधान के समय एक शुक्राणु तथा एक डिम्बाणु परस्पर निकटस्थ होते हैं तथा एक का नाभिक दूसरे के नाभिक से मिलकर एकाकार हो जाता हैं। इस मिलन से उत्पन्न यह एककोश विभक्त होकर एक कोशसमुदाय की रचना करता है जो पहले एक भ्रूण के रूप में तथा अन्त में एक प्रौढ़ जीव के रूप में विकसित होता है। प्रजनन-शास्त्रियों की धारणा के अनुसार पूर्णांग मानवविशेष में विकसित होनेवाला यह एककोश एक सूक्ष्म तथा शक्तिसम्पन्न जैवभौतिक एकक है। अतिसूक्ष्म होने के कारण उसे खाली आँखों से देखना सम्भव नहीं। उसका पर्यवेक्षण केवल सूक्ष्मदर्शक यंत्र से ही सम्भव है। किन्तु उसकी क्षमता विस्मयकर है। प्रजननशास्त्रियों के अनुसार, "डिम्बाणु तथा शुक्राणु के ये नाभिक (nucleus), प्रजननात्मक द्रव्यों के ये छोटे छोटे समूह, जो इतने सारगर्भित होते हैं और जिनमें से इतना सारा उत्पन्न होता है, वास्तव में सृष्टि के सर्वाधिक विलक्षण सजीव पदार्थ हैं।"[२८]

किन्तु एक निषिक्त डिम्बाणु, जिसका कि एक प्रौढ़ मनुष्य के रूप में विकास होता है, को केवल प्राण-सम्पन्न एक द्रव्यात्मक एकक ही के रूप में देखा नहीं

[२८] *Principles of Genetics*, पृ० १७।

जा सकता। वह व्यक्ति अवश्य ही उसमें निहित होगा जिसका कि व्यक्ति-विशेष विकसित रूप है। वेदान्त के अनुसार विकास का अर्थ अन्तर्निहित शक्ति की अभिव्यक्ति है। कारण में जो अनभिव्यक्त रहता है, कार्य के रूप में वही व्यक्त होता है। अंजीर का बीज अंजीर के वृक्ष की अनभिव्यक्त अवस्था है। अंजीर का बीज अंजीर के वृक्ष में परिणत होता है तथा पोस्ते का बीज पोस्ते के पौधे में। इसका कारण यह है कि अंजीर का वृक्ष अंजीर के बीज में तथा पोस्ते का पौधा पोस्ते के बीज में शक्ति के रूप में निहित रहता है। अंजीर के वृक्ष के विश्लेषण से ही हम अंजीर के बीज के वास्तविक रूप को जान सकते हैं। बीज के किसी प्रकार के रासायनिक विश्लेषण से हम उसके स्वरूप को नहीं जान सकते। सूक्ष्मदर्शक यंत्र की सहायता से पर्यवेक्षण भी उसकी शक्ति का पता नहीं लगा सकता। इसी प्रकार पोस्ते के पौधे के विश्लेषण से ही हम पोस्ते के दाने के स्वरूप को जान सकते हैं, किसी अन्य प्रकार से नहीं। इसलिये, निषिक्त डिम्बाणु के वास्तविक रूप को जानने के लिये हमें उसकी मनुष्य के रूप मे विकसित अवस्था को जानना पड़ेगा। वास्तव में यह एक सूक्ष्मकाय मानव ही है। शरीर, उसके अवयव, प्राण, मन तथा आत्मा — मानवी व्यक्तित्व के ये मुख्य

उपादान — अवश्य ही उसमें अनभिव्यक्त रूप में निहित होंगे।

बीजावस्था क्रमविकास की पूर्वावस्था है। वृक्ष के रूप में बीज के विकसित होने का कारण यही है कि वृक्ष बीज में निहित है। वास्तव में क्रमविकास का अर्थ अप्रकट का प्रकट होना है। बीजावस्था को स्वीकार किये बिना क्रमविकास की समुचित व्याख्या नहीं हो सकती। बीजों में विभिन्नताओं के कारण ही एक ही जाति के वृक्षों में विभिन्नताएँ पाई जाती हैं। जैसा कारण है वैसा ही कार्य है। असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं होती। प्रत्येक व्यक्ति की विलक्षणता का हेतु उसकी प्रकृति में निहित है। प्रत्येक व्यक्ति के विकास के मार्ग पर नियम का जो नया व्यतिक्रम होता है उसका कारण न तो परिवेश है न वंशानुक्रम, संयोग की बात तो दूर रही। प्रत्येक व्यक्ति अपने आदर्श के अनुसार विकसित होता है। इसके विकास का रहस्य इसकी जन्मजात सर्जनात्मकता में है। निषिक्त डिम्बाणु के एक व्यक्तिविशेष में विकसित होने का कारण यही है कि वह व्यक्ति उसमें बीजभूत अवस्था में निहित है। आधुनिक क्रमविकासशास्त्री (evolutionist) बीजावस्था या क्रमसंकोच (involution) को नहीं मानते जिसके फलस्वरूप उन्हें क्रमविकास की कार्यप्रणाली की

व्याख्या करते समय "आकस्मिक विविधताओं"(chance variations) तथा "अनियमित परिवर्तनों" (sporadic changes) का आश्रय लेना पड़ता है।

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार :

"इन क्रमविकासवादियों के साथ किसी भी विचारशील व्यक्ति के विवाद की सम्भावना नहीं। पर हमें और भी एक बात माननी पड़ेगी—वह यह कि प्रत्येक क्रमविकास के पूर्व एक क्रमसंकोच की प्रक्रिया वर्तमान रहती है। बीज वृक्ष का जनक अवश्य है, परन्तु एक और वृक्ष उस बीज का जनक है। बीज ही सूक्ष्म रूप है, जिससे से बृहत् वृक्ष निकलता है, और एक दूसरा प्रकाण्ड वृक्ष था, जो इस बीज में क्रमसंकुचित रूप में वर्तमान है। सम्पूर्ण वृक्ष इसी बीज में विद्यमान है। शून्य में से कोई वृक्ष उत्पन्न नहीं हो सकता। हम देखते हैं कि वृक्ष बीज से उत्पन्न होता है और विशेष प्रकार के बीज से विशेष प्रकार का ही वृक्ष उत्पन्न होता है, दूसरा वृक्ष नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि उस वृक्ष का कारण वह बीज़ है — केवल वही बीज, और इस बीज में सम्पूर्ण वृक्ष रहता है। समूचा मनुष्य इस एक बीजाणु के भीतर है, और यह बीजाणु धीरे धीरे अभिव्यक्त होकर मानवाकार में परिणत हो जाता है। सारा ब्रह्माण्ड सूक्ष्म ब्रह्माण्ड में रहता है। सभी-कुछ

अपने कारण में, अपने सूक्ष्म रूप में रहता है। अतएव क्रमविकासवाद—स्थूल की स्थूलतर रूप में क्रमाभिव्यक्ति —बिल्कुल सत्य है। पर इसके साथ ही यह भी समझना होगा कि प्रत्येक क्रमविकास के पूर्व क्रमसंकोच की एक प्रक्रिया रहती है; अतएव जो क्षुद्र अणु बाद में महापुरुष हुआ, वह वास्तव में उसी महापुरुष की क्रमसंकुचित अवस्था है, वही बाद में महापुरुष-रूप में क्रमविकसित हो जाता है। यदि यह सत्य हो, तो फिर क्रमविकासवादियों (followers of Darwin's evolutionism) के साथ हमारा कोई विवाद नहीं, क्योंकि हम क्रमश: देखेंगे कि यदि वे लोग इस क्रमसंकोच की प्रक्रिया को स्वीकार कर लें, तो वे धर्म के नाशक न हो उसके प्रबल समर्थक हो जायेंगे।''[२९]

ज्योतिर्मय, अन्तर्निविष्ट, विज्ञानमय आत्मा ही व्यक्ति के व्यक्तित्व का सार है। उसी की शक्ति व्यक्ति के मनोदैहिक संगठन का प्रतिपालन करती है, फिर उसी के माध्यम से वह अभिव्यक्त होती है। उस नित्यज्योति, अविकारी आत्मा में न विकास है न बीजावस्था, न प्रसार है न संकोच, न वृद्धि है न क्षय। ये विभिन्नताएँ केवल इस मनोदैहिक संगठन के ही लक्षण हैं। इसी के

[२९] विवेकानन्द साहित्य, द्वितीय खण्ड, पृ० १०३-४।

विभिन्न रूपों पर उस स्वयंज्योति आत्मा की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ निर्भर हैं। जिस प्रकार भिन्न भिन्न माध्यमों के कारण सूर्यरश्मि कभी प्रखर तो कभी मन्द मालूम पड़ती है, कभी लाल तो कभी पीली, कभी नीली तो कभी हरी—उसी प्रकार मनोदैहिक विकास के तारतम्य के अनुसार आत्मचैतन्य की ज्योति भी भिन्न भिन्न रूपों में—बुद्धि की प्रखरता या मन्दता में, बल की प्रचुरता या अल्पता में, आनन्द की अधिकता या उसकी न्यूनता में—अभिव्यक्त होती है।[३०]

निषिक्त डिम्बाणु में व्यक्ति का मनोदैहिक संगठन प्रारम्भिक अवस्था में होता है। अत्यन्त ही सूक्ष्म अवस्था में होने पर भी उसका मन और शरीर उसकी आत्मा की

---

[३०] तथा प्राणित्वाविशेषेऽपि मनुष्यादिस्तम्बपर्यन्तेषु ज्ञानैश्वर्यादिप्रतिबंध: परेण परेण भूयान्भवन्दृश्यते, तथा मनुष्यादिष्वेव हिरण्यगर्भपर्यन्तेषु ज्ञानैश्वर्याद्यभिव्यक्तिरपि परेण परेण भूयसी भवतीत्येतच्छ्रुतिस्मृतिवादेष्वसकृदनुश्रूयमाणं . . . ।

(यद्यपि मनुष्य से लेकर तृणपुंज तक जीवित प्राणियों के तौर पर ये सभी समान हैं फिर भी यह देखा जाता है कि ज्ञान, ऐश्वर्य आदि की अभिव्यंक्ति में बाधायें उत्तरोत्तर क्रमश: बढ़ती जाती हैं। इसी तरह वेदों व स्मृतियों में बारंबार इसका उल्लेख पाया जाता है कि मनुष्य से लेकर हिरण्यगर्भ तक ज्ञानैश्वर्यादि की अभिव्यक्ति में उत्तरोत्तर क्रमश: वृद्धि होती है।)

—ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम् : १/३/३०।

अभिव्यक्ति के साथ साथ विकसित होने लगते हैं, भले ही वह अभिव्यक्ति अत्यन्त अस्पष्ट हो। सप्राणता सदा ही संवित् के साथ रहती है। प्राणीमात्र में संवित् या चैतन्य का प्रकाश मन के माध्यम से आत्मा की अभिव्यक्ति के कारण होता है। जैसा कि हमने देखा है, मन के ही माध्यम से चैतन्य का प्रकाश दैहिक स्तर पर जाकर पहुँचता है। व्यक्तिविशेष में मन तथा आत्मा का आविर्भाव कहाँ से होता है? इन दोनों में से किसी का भी माता-पिता से वंशानुक्रम नहीं हो सकता। दोनों अविच्छेद्य हैं। न ही वे, पूर्व में किये गये हमारे विवेचन के अनुसार, माता-पिता से आनुवंशिक रूप से प्राप्त भौतिक तत्त्वों से उत्पन्न हो सकते हैं। इसका निष्कर्ष यह है कि निषिक्त डिम्बाणु मानवशिशु का वास्तविक उद्गमस्थान नहीं है अर्थात् उसकी उत्पत्ति न अपने पिता से होती है, न अपनी माता से, न ही उन दोनों के योग से। अवश्य ही वह कहीं और से आता होगा।

१०. व्यक्ति का जन्म कैसे होता है?

सच कहें तो एक व्यक्ति का जन्म कुछकाल पहले कहीं पर मृत्यु को प्राप्त व्यक्तियों में से किसी एक का पुनर्जन्म ही है। मृत्यु के साथ-साथ व्यक्ति का अन्त नहीं होता, न ही जन्म के साथ उसका आरम्भ

होता है। इतने अर्थपूर्ण मनुष्यजीवन में आकस्मिकता की कोई जगह नहीं। मनुष्य का पुनर्जन्म कैसे होता है इसका पता लगाने के लिये हमें देखना यह पड़ेगा कि उसकी मृत्यु कैसे होती है। मृत्युकाल में उसकी आत्मा, जो उसका वास्तविक स्वरूप है, उसके भौतिक शरीर को तो छोड़ जाती है पर उसके सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर को नहीं छोड़ती। मन अपने अंगभूत समग्र तत्त्वों के साथ सूक्ष्म शरीर का ही अंश है। स्थूल शरीर से प्रयाण के समय मृत्युकालीन कर्मसंस्कारों (अर्थात् वासनाजन्य क्रियाओं, अनुभवों तथा विचारों) के अनुसार मरणासन्न व्यक्ति के सूक्ष्म तथा कारण शरीरों के लिये एक अतिसूक्ष्म भौतिक आच्छादन का निर्माण होता है। यह सूक्ष्म आच्छादन ही उसके परवर्ती स्थूल शरीर की शक्तियों का वाहक होता है। हो सकता है कि उसके कर्मों के द्वारा प्रेरित होकर उसकी गति उच्चतर या निम्नतर लोकों में हो, किन्तु इन कर्मों के क्षय हो जाने के उपरान्त उसके शेष कर्मफल उसे मनुष्यलोक में ला उपस्थित करते हैं जहाँ उसके मुक्त हो जाने की सम्भावना होती है। इस बात का ध्यान रहे कि जीवात्माओं में से जो मुक्त नहीं होते वे ही पुनर्जन्म ग्रहण करते हैं — जो मुक्त हो जाते हैं, वे नहीं।

एक बद्ध जीवात्मा जब मनुष्यलोक में पुनर्जन्म के

लिए प्रस्तुत होता है तो उसके कर्म के संस्कार उसे ऐसे माता-पिता के पास ले जाते हैं जिनसे उसे अपने स्थूल शरीर के उपादान प्राप्त हो सकें। जिस सूक्ष्म भौतिक आच्छादन को वह धारण किये होता है उसमें इन आवश्यक उपादानों को जुटा लेने की क्षमता होती है। अन्न के साथ सम्बन्धित होने के कारण वह अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिये उपयुक्त पिता के शरीर में प्रविष्ट होता है। वहाँ वह उस शुक्राणु में प्रविष्ट होता है जो एक ऐसे बीज में परिणत हो जाता है जिसमें उसे एक व्यक्तिविशेष में विकसित कर देने की क्षमता हो। यही वह बीज है जो माता के शरीर में यथोचित डिम्बाणु से संयुक्त होकर भ्रूणाणु में परिणत होता है तथा विकास के लिये प्रस्तुत होता है। जैसा कि पूर्व में कह चुके हैं, यौन-प्रजनन में प्रयुक्त असंख्य शुक्राणुओं तथा डिम्बाणुओं में से यही दो विशेष स्त्री और पुरुष जननकोष शिशु के जन्म के कारण होते हैं।

एक वृक्ष अनेक फलों को उत्पन्न करता है। उन फलों में एक ही वृक्ष से उत्पत्ति के निमित्त समानता होने पर भी वे फल परस्पर भिन्न होते हैं। इसी प्रकार पारस्परिक समानता के बावजूद पुरुष-शरीर का हर शुक्राणु हर दूसरे शुक्राणु से भिन्न होता है। वैसे ही स्त्री-शरीर का हर डिम्बाणु हर दूसरे डिम्बाणु से भिन्न होता है। अपने कर्म की प्रेरणा से देहान्तरगामी जीवात्मा असंख्य

जननकोशों में से अपने योग्य शुक्राणु और डिम्बाणु में प्रवेश करता है। उसके स्थूल शरीर के लिए आवश्यक शुक्राणु एवं डिम्बाणु का मेल कोई आकस्मिक नहीं होता। न ही वह अनियन्त्रित प्राकृतिक शक्ति की प्रेरणा से होता है। उसके पीछे कर्मवाद के रूप में कार्यकारणवाद जैसा विश्वजनीन नियम है। जिस प्रकार किसी वृक्ष के सभी फलों का जीवन उस वृक्ष के जीवन पर निर्भर है उसी प्रकार शुक्राणु का जीवन पुरुष-शरीर के जीवन पर तथा डिम्बाणु का जीवन नारी-शरीर के जीवन पर निर्भर है। एक निषिक्त डिम्बाणु जिस अर्थ में एक व्यक्तिविशेष है उस अर्थ में एक शुक्राणु या एक डिम्बाणु को एक व्यक्तिविशेष नहीं माना जा सकता है।

उपनिषदों के अनुसार पिता ही माता के क्षेत्र में सन्तान के बीज का वपन करता है। छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है :—

"हे गौतम, नारी ही अग्नि है। इस अग्नि में (इन्द्रियों के अधिष्ठातृ) देवता शुक्र की आहुति देते हैं। इस आहुति से गर्भसंचार होता है।"[३१]

[३१] योषा वाव गौतमाग्निः ... ॥१॥ तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुतेर्गर्भः सम्भवति ॥२॥

— छान्दोग्य उपनिषद् : ५/८/१-२।

बृहदारण्यक उपनिषद् में भी कहा गया है :—

"पृथ्वी पर लौटकर (चन्द्रादि लोकों से उतरते समय) वे (जीवात्माएँ, जो उच्चतर लोकों में जाकर सुख भोगने के लिए यज्ञ, दान, तप आदि सत्कर्म करते हैं)[३२] अन्न (धान, जौ आदि) बन जाते हैं। तदुपरान्त मनुष्य की (जठर) अग्नि में उनकी आहुति दे दी जाती है; तदुपरान्त नारी की अग्नि में, जिससे अन्यान्य लोकों में जाने के उद्देश्य से उनका जन्म होता है (तथा वे यागादि कर्म करते हैं)। इसी प्रकार वे पुनरावर्तित होते रहते हैं (जब तक वे उस ज्ञान को नहीं प्राप्त होते जो जन्म से जन्मान्तर की पुनरावृत्ति से उनकी रक्षा करता है)।"[३३]

यहाँ पिता को जनक कहा गया है। इस सन्दर्भ में वेदान्त का सिद्धान्त आधुनिक "शुक्राणुवादियों" (spermists) के सिद्धान्त से मिलता जुलता है। गर्भसंचार के सन्दर्भ में "डिम्बाणुवादियों" (ovists) के विचार इसके विपरीत हैं। डाक्टर स्टर्टव्हन्ट के अनुसार :—

[३२] उनके सत्कर्मों के पुण्यफल के क्षय हो जाने पर वे पुनः मानवी धरातल पर जन्म ग्रहण करते हैं।

[३३] ते पृथिवीं प्राप्यान्नं भवन्ति, ते पुनः पुरुषाग्नौ हूयन्ते, ततो योषाग्नौ जायन्ते लोकान्प्रत्युत्थायिनः, त एवमेवानुपरिवर्तन्ते... ॥

— बृहदारण्यक उपनिषद् : ६/२/१६।

"गर्भसंचार सम्बन्धी स्पष्टतर विचारों के विकास के साथ-साथ दो दल सामने आये — डिम्बाणुवादी (ovists), जिनके विचार ये थे कि पूर्वनिर्मित अंगावयव सभी अनिषिक्त डिम्बाणु में निहित हैं, शुक्राणु उन्हें केवल सक्रिय कर देता है, तथा शुक्राणुवादी (spermists), जिनके विचार से शुक्राणु ही स्वयंसम्पूर्ण जीव है जो डिम्बाणु से केवल पोषित और वर्धित होता है।"[३४]

ऐतरेय उपनिषद् के शब्दों में :—

"सर्वप्रथम यह (देहान्तरग्रहणेच्छुक) जीवात्मा पुरुष के शरीर में रेतस् के रूप को प्राप्त होता है। यह (रेतस्) शरीर के सभी अंगों का सार है जिसे पुरुष अपने शरीर में धारण करता है। जब वह इसका अपनी स्त्री में सिंचन करता है तब वह इसे जन्म देता है। यही इस (जीवात्मा) का प्रथम जन्म है।

"वह (रेतस्) इस स्त्री से अभिन्न हो जाता है जैसे कि उसके (शरीर के) अंग होते हैं। इसलिये यह उसे पीड़ा नहीं पहुँचाता। उसके शरीर में जिसने प्रवेश किया है उसका वह पालन करती है। ऐसा माना जाता है कि पिता ही पुत्र के रूप में जन्म लेता है।

[३४] प्रो० ए० एच० स्टर्टह्वन्ट : *A History of Genetics*, हार्पर ऐन्ड रो, १६६५, पृ० १२१।

"(अपने गर्भ का) पालन करने के कारण वह (स्त्री स्वयं) भी प्रतिपालन के योग्य होती है। वह उस भ्रूण को (जन्म से पूर्व) धारण करती है। पुत्र के जन्म के पश्चात् प्रथम से ही वह (पिता) (जातकर्मादि संस्कारों के द्वारा) उसकी रक्षा करता है। जन्म के पश्चात् नवजातक की (इस प्रकार से) रक्षा करते हुए इन लोकों के क्रम को अविच्छिन्न रखने के लिये वह अपनी ही रक्षा करता है। कारण इसी प्रकार से इन लोकों का क्रम चलता रहता है। यह (मातृगर्भ से बहिर्गत होना) उसका द्वितीय जन्म है।

"वह (पुत्र) जो अपने पिता की आत्मा है सत्कर्मों के अनुष्ठानों में उसका (पिता का) स्थलाभिषिक्त होता है। तब इस आत्मा का अपर रूप (अर्थात् उसका पिता) आयु शेष होने पर कृतकृत्य होकर प्रयाण करता है। इस प्रकार यहाँ से प्रयाण करने के बाद वह पुनर्जन्म लेता है। यह उसका तृतीय जन्म है।"

इसकी व्याख्या भगवान् शंकराचार्य इस प्रकार करते हैं :—

पूर्वपक्ष :— देहान्तर ग्रहण करने की इच्छा से युक्त जीवात्मा का प्रथम जन्म क्या पिता के रेतस् के रूप में नहीं होता ? माता से पुत्र के रूप में उसकी उत्पत्ति को उसका द्वितीय जन्म कहा गया है। अब उसी

आत्मा (जो पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ है) के तृतीय जन्म के सन्दर्भ में यह क्यों कहा गया कि मृत पिता का पुनर्जन्म उसका तृतीय जन्म है ?

सिद्धान्त :— इसमें कोई दोष नहीं। इसका कारण यह है कि इस कथन का उद्देश्य पिता तथा पुत्र की एकात्मता के बारे में कहना है। वह पुत्र भी अपने पिता के ही समान अपने पुत्र पर अपना भार (उचित समय पर) समर्पित कर देता है तथा यहाँ से प्रयाण करने के साथ ही साथ पुनः जन्मग्रहण करता है। ...एक के (पिता के) सम्बन्ध में कही गई बात यहाँ (पुत्र के सम्बन्ध में) भी प्रयुक्त होती है — इसका कारण यह है कि पिता और पुत्र की आत्मा एक ही है।[३५]

पुनर्जन्म का सिद्धान्त जीवन को सार्थक बनाता है। यह मानव के अतीत एवं भावी जीवन के सन्दर्भ में उसके वर्तमान अस्तित्व की व्याख्या करता है। अगर जन्म जीवन का आरम्भ है तो अवश्य ही मृत्यु इसका अन्त होगा। अतीत के अस्तित्व को स्वीकार किये बिना भविष्य जीवन को मान लेना हमारे लिये तर्क-

[३५] ऐतरेय उपनिषद् तथा उस पर शांकरभाष्य, २/१/१-४।

संगत नहीं है। भविष्य जीवन की कल्पना वर्तमान जीवन को उसके पूर्वकालीन अस्तित्व के रूप में स्वीकार कर लेने पर आधारित है।

प्रत्येक शिशु एक विशेष मनोदैहिक गठन के साथ जन्म लेता है। इस विशेषता का क्या कारण है? व्यक्ति की सहजात प्रवणताओं में जो भिन्नता होती है, आनुवंशिकता (heredity) से उसकी तर्कसंगत व्याख्या नहीं हो सकती। पुनर्जन्म के सिद्धान्त से जीवन की विषमताओं की एकमात्र सन्तोषप्रद व्याख्या होती है। व्यक्ति का सुख तथा दुःख, दुर्बलताएँ तथा उत्कर्ष, ज्ञान तथा अज्ञान, उन्नति तथा अवनति — ये प्रधानतः उसके अपने पूर्वकालिक कर्म तथा विचारों पर निर्भर हैं। कोई बाहरी शक्ति, माता-पिता, देवकृपा, आकस्मिक संयोग या भाग्य इसके लिये उत्तरदायी नहीं। यह सिद्धान्त आनुवंशिकता तथा भाग्य को मानवजीवन का हेतु नहीं मानता। यह सिद्धान्त मानव को स्वनिर्भर बनाता है।

यह सिद्धान्त वास्तविक मानव को, अर्थात् उस अविकारी आत्मा को, अपनी नित्यपरिवर्तनशील मनोदैहिक उपाधि से पृथक् करता है तथा उसके बन्धन के कारण को एवं मोक्ष के मार्ग को प्रदर्शित करता है। देह, मन तथा आत्मा के पारस्परिक सम्बन्ध का स्पष्ट ज्ञान

आत्मज्ञान का उपाय है। ये तीनों परस्पर संश्लिष्ट होते हुए भी परस्पर भिन्न हैं। किसी एक की उत्पत्ति अन्य दो तत्त्वों से नहीं होती, न ही वह उनसे किसी प्रकार अभिन्न मानी जा सकती है।

प्राणीशास्त्र के अनुसार व्यक्ति की उत्पत्ति और उसके विकास के लिये आनुवंशिकता एवं परिवेश दो मुख्य बातें हैं। इनमें आनुवंशिकता मौलिक है। इसके अनुसार निषिक्त डिम्बाणु (zygote) माता-पिता से प्राप्त भौतिक कणों से निर्मित एक जड़ एकक है। मानव की उत्पत्ति एवं उसके विकास के इस स्रोत को मान लेने का अर्थ जड़ को मौलिक सत्ता के रूप में समर्थन देना है। इसका अर्थ यह है कि मानव की आध्यात्मिक सत्ता की तथा उसके मन की उत्पत्ति स्थूल जड़ से होती है। पर यह बात मान लेने योग्य नहीं है। भौतिक प्रक्रियाओं से भौतिक प्रकाश उत्पन्न हो सकता है किन्तु उससे आत्मचैतन्य की वह ज्योति, जिसका लक्षण आत्मज्ञान है, जो चेतन को जड़ से पृथक् करती है, उत्पन्न नहीं होती। मानव की आध्यात्मिक सत्ता वास्तव में न जन्म लेती है, न मरती है बल्कि प्रारब्ध कर्म के अनुसार कुछ समय के लिये देहान्तर ग्रहण करती है।

हमारे हिन्दी प्रकाशन

श्री रामकृष्ण—संक्षिप्त जीवनी	...	7.50
श्री रामकृष्ण की कहानियाँ	...	6.75
श्री रामकृष्ण की जीवन-कथा	...	3.00
श्री सारदादेवी—संक्षिप्त जीवनी	...	5.50
स्वामी विवेकानन्द—संक्षिप्त जीवनी	...	5.50
विवेकानन्द की कहानी	...	3.00
विवेकानन्द साहित्य—सस्ता संस्करण (सेट १० खण्डों में)	...	1[illegible].00
मन और उसका निग्रह	...	4.75
साधना और सिद्धि	...	6.75
समाधि के सोपान	...	5.00
धर्म क्यों ?	...	4.00

अद्वैत आश्रम
५ डिही एण्टाली रोड
कलकत्ता ७०० ०१४

मूल्य 4.50